नाम के आगे लगा सन्नाटा

डॉ. यशोदा कुमारी
मो. 8869857474

'नाम के आगे लगा सन्नाटा' उस सामाजिक, मानसिक और भावनात्मक मौन का संकेत है, जो किसी व्यक्ति की पहचान के साथ जुड़ जाता है। यह सन्नाटा तब उत्पन्न होता है जब नाम सुनते ही समाज सवाल पूछने, दूरी बनाने या चुप हो जाने का व्यवहार करता है। यह मौन सम्मान का नहीं, बल्कि पूर्वाग्रह, भेदभाव और अस्वीकृति का मौन होता है। दूसरे शब्दों में, यह अभिव्यक्ति बताती है कि व्यक्ति का नाम स्वयं उसकी आवाज को दबा देता है, उसकी योग्यता, संघर्ष और उसके मानव होने को अनदेखा कर देता है।

मेरा नाम लेते ही लोग अक्सर रुक जाते हैं। ऐसा नहीं कि नाम कठिन है, बल्कि इसलिए कि नाम के साथ जो जुड़ा है, वह उन्हें असहज कर देता है। नाम के बाद एक सन्नाटा खड़ा हो जाता है—भारी, बोझिल, अपमान से भरा हुआ। वह सन्नाटा बोलता नहीं, लेकिन बहुत कुछ कह जाता है। मैं पैदा हुआ तो अम्मा ने मेरी ओर देखकर बड़े भरोसे से कहा था, 'बेटा हुआ है। नाम ऐसा रखना कि जिंदगी में कभी सिर झुकाना न पड़े।' अम्मा को क्या पता था कि इस समाज में सिर झुकना नाम से नहीं, जाति से तय होता है। यहाँ कुछ नाम ऐसे होते हैं, जिनके साथ जन्म लेते ही आदमी की गर्दन झुकवा दी जाती है—बिना पूछे, बिना बताए। हमारा गाँव किसी सरकारी नक्शे में दर्ज नहीं है। कोई सड़क पूछे तो लोग कंधे उचका देते हैं, लेकिन जाति के नक्शे में हमारा गाँव बहुत साफ दिखाई देता है—इतना साफ कि हर आने-जाने वाला पहचान लेता है कि कौन कहाँ तक जा सकता है और किसे कहाँ रुक जाना है।

गाँव दो हिस्सों में बँटा है। एक हिस्सा वह, जहाँ घरों की दीवारें ऊँची हैं, दरवाजों पर नाम लिखे हैं और लोगों की आवाज में हक का भरोसा है। दूसरा हिस्सा वह, जहाँ दीवारें नहीं, मगर इंसानों की गर्दनें नीची हैं; जहाँ घर कम और डर ज्यादा है, जहाँ चुप रहना एक आदत नहीं, बल्कि जरूरत है। हम उसी हिस्से में रहते हैं जिसे लोग बड़ी आसानी से 'बस्ती' कह देते हैं, लेकिन वह सिर्फ बस्ती

नहीं है—वह पीढ़ियों से अलग-थलग की गई जिंदगी है, जहाँ सपने भी सोच-समझकर देखने पड़ते हैं और उम्मीदें अक्सर चौखट पर ही दम तोड़ देती हैं। यहाँ पैदा होना ही पहला अपराध है और जिंदा रहना रोज की सजा।

बचपन से ही मैंने बहुत कुछ सीख लिया था—पानी कैसे पीना है, रास्ता कैसे पार करना है, और सबसे जरूरी—चुप कैसे रहना है?

पानी पीते वक्त, हाथ नहीं, नजर झुकानी पड़ती थी। रास्ता पार करते समय यह देखना पड़ता था कि सामने कौन आ रहा है। और चुप रहना इसलिए जरूरी था, क्योंकि हमारे सवाल किसी किताब में नहीं लिखे गए थे। सवाल पूछना हमारे हिस्से में नहीं था, हमारे हिस्से में था—सब कुछ सह लेना। स्कूल पहुँचना मेरे लिए किसी युद्धभूमि में प्रवेश करने जैसा था।

कक्षा की दीवारों पर अक्षर टँगे थे, लेकिन उनके बीच बराबरी नहीं लिखी थी। जब मास्टर ने पहली बार मेरा नाम पुकारा, तो पूरी कक्षा हँस पड़ी—ऐसी हँसी, जिसमें बचपना नहीं, विरासत में मिली नफरत थी। मैं कुछ पल तक खड़ा रहा। समझ नहीं पाया कि मेरे नाम में ऐसा क्या था, जो हँसी का कारण बन गया। घर में तो उसी नाम से मुझे पुकारा जाता था, उसी नाम से अम्मा मुझे दुलारती थीं। लेकिन उस कक्षा में मेरा नाम मेरा नहीं रहा—वह मेरी पहचान बन गया, और पहचान मेरी सजा। रजिस्टर में जब पिता का नाम लिखा गया, तो मास्टर की भौंहें तन गईं। उन्होंने एक पल रुककर कहा—'ओह् तुम उस जाति से हो।'

उन शब्दों ने मुझे मेरी उम्र से पहले बड़ा कर दिया। उस दिन पहली बार समझ आया कि जाति कोई साधारण शब्द नहीं होता—वह एक ठप्पा है, जो माथे पर नहीं, आत्मा पर लगाया जाता है। उस दिन मुझे यह भी समझ में आ गया कि इस स्कूल में पढ़ाई सबके लिए एक-सी नहीं है। कुछ बच्चे सवाल पूछने के लिए आते हैं, और कुछ बच्चे चुप रहना सीखने के लिए। मैं दूसरे वाले बच्चों में था—जहाँ हर सही जवाब के बावजूद नजरें झुकी रहनी थीं। उस दिन के बाद मैंने किताबों से ज्यादा लोगों को पढ़ना शुरू किया। अक्षरों से ज्यादा खामोशी समझी। और जान लिया कि यह समाज पहले जाति पूछता है, फिर काबिलियत।

हमारे घर में शाम किसी सुकून की तरह नहीं आती थी। वह थकान बनकर आती थी—दिन भर की नहीं, पूरी जिंदगी की। पिता जब लौटते थे, तो उनके कंधों पर सिर्फ मजदूरी का बोझ नहीं होता था। उनकी पीठ झुकी हुई थी—सिर्फ मेहनत से नहीं, अपमान से भी। हर झुकाव में किसी की डाँट, किसी की घूरती नजर और किसी की बेवजह की हँसी दबी रहती थी। वे कम बोलते थे। शायद इसलिए नहीं कि उनके पास कहने को कुछ नहीं था, बल्कि इसलिए कि बोलने का हक उनसे बहुत पहले छीन लिया गया था। उनके हाथों की लकीरों में रोटी तो लिखी थी, लेकिन इज्जत नहीं। अम्मा के हाथों में गहरी दरारें थीं—जैसे उनकी हथेलियों ने उम्र से पहले ही हार मान ली हो। पानी, बर्तन, कपड़े और जिंदगी—सब कुछ उन्हीं हाथों से गुजरा था। लेकिन उनकी आँखों में दरारें नहीं थीं। वहाँ सवाल थे—खामोश, जले हुए, मगर जिंदा। वे मुझे बार-बार पास बुलाती थीं। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहती थीं, 'पढ़ ले बेटा... ताकि तुझे कोई ऐसे न देखे, जैसे हमें देखा जाता है।' उनकी आवाज में सपना नहीं, एक डर छिपा होता था। उन्हें पता था कि पढ़ाई कोई गारंटी नहीं है, लेकिन चुपचाप सहते रहने से बेहतर एक रास्ता तो है। जब वे यह कहती थीं, तो उनकी आँखें कहीं दूर देखती थीं—शायद उस दुनिया की तरफ जहाँ आदमी की पहचान उसके काम से हो, उसकी जाति से नहीं। जहाँ सिर झुकाना मजबूरी न हो, और आँखें जमीन खोजती न फिरें।

उस दिन मुझे समझ आया—मेरी पढ़ाई सिर्फ मेरी नहीं है। वह पिता की झुकी पीठ का जवाब है, अम्मा के फटे हाथों का सपना है, और उस नजर के खिलाफ एक सवाल, जो हमें इंसान से पहले जाति समझती है। लेकिन पढ़ना कभी आसान नहीं रहा। हर किताब से पहले मुझे अपनी जगह साबित करनी पड़ी। कॉलेज पहुँचना किसी सपने जैसा नहीं था, बल्कि ऐसा लगा जैसे मैं अचानक किसी और ही दुनिया में आ गया हूँ। यहाँ लोग सीना तानकर चलते थे, उनके कदमों में हिचक नहीं थी। और मैं—अपने-आपको समेटकर चलता था, जैसे कहीं ज्यादा जगह न घेर लूँ। कॉलेज की गलियाँ चौड़ी थीं, लेकिन उनमें मेरे लिए जगह कम थी। यहाँ

बातचीत में आत्मविश्वास था, हँसी में बेफिक्री। और मेरे भीतर... लगातार एक डर, कि कहीं कोई मेरा नाम, या उससे भी पहले मेरी पहचान न पूछ ले। फॉर्म भरते वक्त जब जाति वाला कॉलम सामने आया, मेरी कलम ठहर गई। वह वही पुराना सन्नाटा था... नाम के आगे लगा हुआ। कुछ पल के लिए लगा कि अगर यह कॉलम न भरूँ, तो शायद मैं भी 'सामान्य' हो जाऊँ, लेकिन सन्नाटा टूटना ही था।

जाति लिखते ही सामने बैठे व्यक्ति का लहजा बदल गया। उसकी आँखों में अब उत्सुकता नहीं, जाँच थी। अब मैं छात्र नहीं था—मैं 'रिजर्वेशन वाला' था। मेरी मेहनत को मेरे जन्म से छोटा कर दिया गया था। मेरे अंक, मेरी रातों की जाग, मेरे पिता की झुकी पीठ और अम्मा के फटे हाथ... सब एक शब्द में समेट दिए गए। जैसे सब कुछ मुफ्त में मिला हो।

एक दिन किसी ने हँसते हुए कहा, 'तुम लोग तो सब कुछ फ्री में पा जाते हो।' मैंने उसे देखा। उसकी आँखों में सवाल नहीं, फैसला था।

मैं पूछना चाहता था, 'जो पीढ़ियों से छीना गया, उसे हासिल करना, मुफ्त कैसे हो सकता है? जो अपमान विरासत में मिला, उसकी भरपाई कौन करेगा?' लेकिन शब्द... गले में ही मर गए, क्योंकि यहाँ सवाल पूछने वाले अक्सर दोषी बना दिए जाते हैं। कॉलेज से गाँव लौटा, तो लगा कि पढ़ाई ने मुझे और अकेला कर दिया है। अब मैं दो दुनियाओं के बीच लटका था। जो पढ़े-लिखे नहीं थे, वे मुझसे डरते थे—शायद उन्हें लगता था कि मैं उनसे दूर निकल गया हूँ। और जो पढ़े-लिखे थे, वे मुझसे नफरत करते थे—क्योंकि मैं उनके बराबर आ गया था। अब न मैं पूरी तरह गाँव का रहा, न शहर का। मेरी पहचान दोनों जगह अधूरी थी। शायद यही पढ़ाई की सबसे बड़ी कीमत थी—कि उसने मुझे सवाल देना सिखाया, लेकिन जवाब कहीं नहीं छोड़े। एक शाम मंदिर के सामने मैं पानी भरने खड़ा था। दिन ढल रहा था, लेकिन मेरे भीतर की प्यास अब भी तेज थी—सिर्फ पानी की नहीं, इंसान होने की। मंदिर की सीढ़ियाँ ऊँची थीं, और उनके नीचे खड़ा मैं—अपनी हैसियत में। घड़ा भरते ही किसी ने पीछे से टोक दिया, 'रुको! यह जगह तुम्हारे लिए नहीं है।'

उस आवाज में गुस्सा नहीं था, आदेश था। जैसे यह बात सदियों पहले तय हो चुकी हो। मैंने पहली बार नजर झुकाने के बजाय नजर उठाई और पूछा, 'पानी भी जाति देखकर बहता है क्या?' मेरे सवाल में कोई गाली नहीं थी, कोई चुनौती नहीं—बस एक सीधा सच। लेकिन सच इस समाज को सबसे ज्यादा चुभता है। जवाब में शब्द नहीं आए। लाठी चली। एक नहीं, कई बार। मेरे शरीर से खून बहा—गरम, चिपचिपा, धरती पर फैलता हुआ, लेकिन उससे कहीं ज्यादा मेरी आत्मा से खून बह रहा था। हर वार के साथ यह एहसास गहराता गया कि मेरा अपराध सिर्फ सवाल पूछना था। लोग तमाशा देखते रहे। कुछ ने मुँह फेर लिया, कुछ चुप रहे। और उसी चुप्पी ने लाठियों को और मजबूत कर दिया। उस रात मैं सो नहीं पाया। घाव जल रहे थे, लेकिन उससे ज्यादा जल रहा था मेरा आत्मसम्मान।

उसी अँधेरी रात में मैंने पहली बार बाबा साहब को पढ़ा। उनके शब्द मेरे घावों पर मरहम नहीं थे—वे हथियार थे। उन्होंने मुझे सहना नहीं, सोचना सिखाया। डरना नहीं, समझना सिखाया। उन्होंने लिखा था, 'जिस समाज में आत्मसम्मान नहीं, वहाँ जीवन व्यर्थ है।' वह पंक्ति मेरे भीतर उतर गई। मुझे लगा, मेरी पीठ पर पड़े हर निशान का कोई अर्थ है। मेरी चुप्पी का कोई हिसाब है। उस दिन मैंने अपने आप से वादा किया—अब मैं चुप नहीं रहूँगा, क्योंकि चुप रहना सिर्फ डर नहीं होता, वह अत्याचार की सबसे वफादार साझेदार होती है। अब मेरा सवाल सिर्फ मेरे लिए नहीं था। वह उन सबके लिए था जो मंदिरों के बाहर, कुओं के पास, कक्षाओं की आखिरी पंक्तियों में और समाज की हाशियों पर खड़े कर दिए गए थे। उस दिन मेरे भीतर एक आदमी नहीं, एक आवाज पैदा हुई। जब मैंने बोलना शुरू किया, तो मुझे तुरंत याद दिलाया गया, 'ज्यादा बोलने लगे हो। औकात भूल रहे हो।'

यह चेतावनी नहीं थी, यह डराने की पुरानी तरकीब थी, लेकिन इस बार मैंने औकात नहीं, इतिहास पढ़ा था। मैं जान चुका था कि औकात तय करने वाले हमेशा डरते हैं, क्योंकि उन्हें पता होता है कि उनका हक झूठ पर टिका

पृष्ठ सं. 116 पर शेष भाग

कर्मकांड के लिए पंडित जी को बुलाया गया। माथे पर तिलक, सफेद कुर्ता पहने, धोती का आखिरी छोर हाथों में पकड़े हुए पंडित जी ने घर में प्रवेश किया। उन्होंने घर के बीचों बीच अपना आसन लगाया, भाइयों का ध्यान अपनी ओर खींचा और बैठ गए।

पंडित जी ने कर्मकांड के लिए जरूरी सामग्रियों की एक लंबी-चौड़ी सूची बनाकर भाइयों के हाथ में थमा दी और जल्दी लाने को कहा।

एक कोने में लोग 'टिटी' (अर्थी) बांधने लगे थे। दूसरे कोने में, महिलाएँ बिलखती हुई शव को नहलाने-धुलाने के क्रियाकर्म में लगी थीं। बेटियों का रुदन इतना तेज हो गया था कि देखने वालों की भीड़ भी उस दुख को महसूस कर रही थी।

सामग्री आते ही, एक भाई ने पंडित जी को सौंपते हुए कहा, 'अब आप काम शुरू करें।'

पंडित जी ने गंभीर स्वर में मंत्र पढ़ना शुरू किया और घोषणा की, 'पिंडदान समुचित विधि-विधान से होगा। नहीं तो माता जी को मोक्ष नहीं मिलेगा।'

भाई तुरंत तैयार हो गए। 'हाँ पंडित जी, आप शुरू तो करें।'

पंडित जी ने अपनी आवाज ऊँची की, 'पिंडदान को विधिवत किए जाने पर ही माँ की आत्मा को शांति मिलेगी। आप लोग भी प्रेतात्मा से मुक्त रहेंगे।'

माँ की आत्मा की शांति और मोक्ष प्राप्ति की बात सुनकर, भाइयों का ध्यान सचेत हो गया। उन्होंने पूरे ध्यान से पंडित जी के निर्देशों का पालन किया। पंडित जी ने मंत्रों का उच्चारण करते हुए कहा, 'जो मृत है, उससे अपने रिश्ते को जोड़ते हुए, उनके मोक्ष और अपने जीवन में प्रेतात्माओं से शांति का ध्यान धरते हुए, यहाँ पिंड पर अक्षत के साथ कुछ पैसों को भी अर्पित करें।'

पिंडों की संख्या तीन थी। तीनों भाइयों ने अलग-अलग, तीनों पिंडों पर अक्षत के साथ श्रद्धापूर्वक पैसे समर्पित किए।

इसके बाद, बारी आई अन्य भाइयों और सगे-संबंधियों की। एक ही गोत्र के संबंधियों ने, 'माँ को मोक्ष मिले!' कहते हुए दाह-संस्कार करने वाले भाई के हाथ में पैसा डालना शुरू कर दिया।

देखते ही देखते, भाई का हाथ पैसों से भर गया। इतने नोट थे कि कुछ रुपए फिसलकर जमीन पर गिरने लगे।

पंडित जी की लालची निगाहें पैसों पर टिकी थीं। मंत्र उच्चारण करते हुए भी, वह बार-बार बोल रहे थे, 'और लोग आते जाइए! माँ को मोक्ष मिले और घर में शांति स्थापित हो! सभी दान करें!'

तीनों भाइयों ने जितना संभव हो सका, श्रद्धा के नाम पर पैसे दिए।

घर का आँगन रोने, भागदौड़ और पैसों की खनक से भर गया था।

और बीचों-बीच-माँ का निस्तब्ध, शांत शरीर पड़ा था।

उनके पास अब कोई सांस नहीं थी,

बस उनके मोक्ष की कीमत तय की जा रही थी।❑

पृष्ठ सं. 107 का शेष भाग

है। अब मैं अकेला नहीं था। मेरे शब्दों में मेरी जाति नहीं, मेरा सच बोल रहा था। और सच कभी अकेला नहीं होता। मैं समझ चुका था—यह लड़ाई मेरे अपमान की भरपाई नहीं, एक पूरी पीढ़ी की इंसानियत की माँग है। यह उन सबकी लड़ाई थी जिनके नाम के आगे सन्नाटा लगा दिया गया है। जिनकी पहचान कागजों में तो दर्ज है, लेकिन समाज में नहीं। जिनकी मेहनत दिखती है, लेकिन बराबरी नहीं। हमने संगठन बनाया। डर से नहीं, जरूरत से। हमने नीला झंडा उठाया, किसी रंग के खिलाफ नहीं, बराबरी के पक्ष में। पहली बार सड़कें हमारी आवाज से गूँजीं। नारे लगे, 'हम भी इंसान हैं!'

'हम भी बराबर हैं!'

ये नारे हवा में नहीं, सीधे सत्ता की दीवारों से टकराए। और जैसे हर बार होता है—जवाब में लाठियाँ चलीं। वही पुरानी भाषा। वही पुराना जोर, लेकिन इस बार लाठी की चोट दिल तक नहीं पहुँची। क्योंकि डर से बड़ी चीज, चेतना जाग चुकी थी।

अब हमें पता था कि गिरना हार नहीं है, और चुप रहना सबसे बड़ी हार है। आज जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो समझ आता है—यह लड़ाई सिर्फ अधिकार की नहीं थी। यह पहचान की थी। अपने नाम को पूरा करने की लड़ाई। अपने वजूद को आधे में कटने से बचाने की लड़ाई। आज भी जब कोई मेरा नाम पूछता है, और मैं पूरा नाम बताता हूँ—तो वही पुराना सन्नाटा अब भी आता है, लेकिन फर्क इतना है—अब वह सन्नाटा मुझे नहीं डराता। अब वह सन्नाटा मेरे सवालों से डरता है, क्योंकि अब मैं जानता हूँ—नाम के आगे लगा सन्नाटा हमारी चुप्पी से नहीं, हमारी आवाज से टूटता है। ❑